रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्री ब्र. विद्युल्लताबेन शहा, एम्. ए., बी. एड्.
श्राविकासंस्थानगर, सोलापूर २

जिन जिन महात्माओं ने आदर्श श्रावक बनने का संकल्प किया, उन सभी जीवों ने अपने इस संकल्प की सिद्धि के लिए इस छोटे से ग्रन्थ का अभ्यास कर उसके प्रत्येक शब्द का भाव आत्मसात् किया। आदर्श श्रावक के शुद्ध निर्मल जीवन का सच्चा प्रतिबिंब ही यह 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ का दूसरा नाम है 'उपासकाध्ययन'। श्रावकरत्नत्रय धर्म का उपासक होता है। उसे इस ग्रन्थ का अभ्यास आवश्यक है। जिनवाणी जिन द्वादश अंगों में गूंथी गई उन बारह अंगों में इस उपासकाध्ययन का स्थान है। वही उसका उगमस्थान है। चरणानुयोग के अति प्राचीन ग्रन्थ की रचना भावी तीर्थंकर, परमऋद्धिधारी स्याद्वादकेसरी, महादिगम्बर साधु श्री समन्तभद्र आचार्य ने सिर्फ डेढसौ श्लोकों में की है। इस ग्रन्थ के उजाले में श्रावकों की आचारशुद्धि खिल उठती है, परिणामों का सुगंध चारों ओर महक उठता है और सहज गत्या मुनिमार्ग प्राप्त कर सकते हैं। साध्य स्वरूप मुनिधर्म की प्राप्ति का श्रावक धर्म प्रधान साधन है। और उसीका इस ग्रन्थ में उल्लेख है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' इस सालंकृत नामही में इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय समा गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये ही तीन सच्चे अलंकार जीवन को सजानेवाले हैं। आचार्य श्री ने इन्हीं तीन रत्नों को एक करण्डे में रख धरोहर के रूप में भाग्यवन्तों के हाथों सौंप दिया है। महातपस्वी साधु का दिया हुआ यह प्रासुक दान प्रसन्न अन्तःकरण से श्रावक ग्रहण करें।

वर्ण्य विषय

रत्नकरण्ड श्रावकाचार यह एक सूत्रमय ग्रन्थ है। "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" इस सूत्र में शेष डेढसौ श्लोक–पुष्पों को गूंथकर भाविकों की इच्छाओं को पुलकित करनेवाला सुन्दर हार बनाया गया है। 'धर्म' इस दो वर्णवाले शब्द में ही दुःखों से छुडाकर समीचीन शाश्वत सुखस्थान में रखनेवाला, कर्मकलंक को पूर्णतया हटानेवाला यदि कोई धर्म है तो वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक आत्मस्वरूप रत्नत्रय धर्म ही है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न हैं। आचार्य श्रीने 'धर्मान्' इस प्रकार बहुवचनान्त प्रयोग न कर 'धर्मम्' इस प्रकार एक वचनान्त शब्द का प्रयोग क्यों किया?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखप्राप्ति का, मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता में है; न कि भिन्नता में। आचार्य श्री उमास्वामि ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारंभ में 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः'। इस सूत्र में 'मार्गः' एकवचन रखकर जिस तरह दोनों की एकता मोक्षमार्ग है इस प्रकार किया है। उसी तरह 'धर्म' इस एक वचनात्मक शब्दप्रयोग द्वारा मुक्तिमार्ग एक ही है अनेक नहीं है यह सूचित किया है।

उपर कहे गये श्लोक के पूर्वार्ध में जिस तरह धर्म का सारभूत स्वरूप कहा गया है, उसी तरह उत्तरार्ध में अधर्म का स्वरूप कहा गया है—'यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः'। धर्मस्वरूप विरुद्ध मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र यह संसारचक्र की परंपरा को बढानेवाला अधर्म है।

ग्रंथ का विस्तार अत्यल्प होते हुए भी वर्ण्य विषय के बारे में कहीं भी संदिग्धता नहीं है। थोडे शब्दों में जटिल प्रश्नों का निश्चित निर्णय हो जाता है। जो भी कुछ कहा गया है, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव इन दोषों से मुक्त हितकारक सत्य हि कहा गया है। अतएव इस ग्रंथ को सूत्ररूप ग्रंथ कहने में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। सूत्र का लक्षण ऐसा ही होता है—

'अल्पाक्षरं संदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥' (जयधवल)

इस ग्रंथ में उपासक के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का वर्णन अभिप्रेत है। सर्वप्रथम प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन, द्वितीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का और शेष अध्यायों में सम्यक्चारित्र का (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का) अर्थात बारह व्रतों का प्रतिमाओं का और सल्लेखना का विवेचन है। यह ग्रंथ चरणानुयोग का होने से पुरुषार्थपूर्वक आचार की प्रधानता से लिखा गया है। इसलिए रत्नत्रय का विवेचन यहाँ पर द्रव्यानुयोग की दृष्टि से न होकर सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के निमित्तभूत और सम्यग्दर्शन के साथ साथ रहनेवाले बाह्य आचार की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। अर्थात आशय स्पष्ट है की व्यवहारनय की प्रधानता से ही ग्रंथ की रचना है। फिर भी समीचीन व्यवहार का यथार्थ दर्शन करते हुए 'श्रद्धानं परमार्थानाम्' (श्लोकांक ४) 'रागद्वेषनिवृत्यै' इ. (श्लोक ४७) आदि पदों के प्रयोग से निश्चय के यथार्थभाव का स्पष्टतया उल्लेख बराबर यथास्थान आया ही है इसलिए सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार से किया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

सच्चे आप्त–देव, शास्त्र और गुरुओं के तीन मूढता तथा आठ प्रकार के गर्वों से रहित और आठ अंगों से सहित निर्मल श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञान और चारित्र का आधार सम्यग्दर्शन होने के कारण इस लक्षणात्मक श्लोक में आये हुए हर एक शब्द का स्पष्टीकरण आगे के प्रथमाध्याय के श्लोकों में किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप्त—सच्चा हितोपदेशक, यह मधुर ध्वनि निकालनेवाले मृदंग की तरह निरपेक्ष वृत्तिवाला होता है। दीपस्तंभ की तरह वचन सन्मार्ग को दिखानेवाले होते हैं। उन्हीं के वचनों को **आगम** या शास्त्र कहा जाता है। ऐसे आप्त और आगम को बनानेवाले सद्गुरुहि होते हैं। उन्हें यहां तपोभृत् कहा है। वे पंचेंद्रियों के विषयों से पराङ्मुख होकर ध्यान और तपमें लीन होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। सम्यग्दर्शन रूप धर्म की धारणा तभी होती है जब कि ऐसे आप्त, आगम और गुरुओं पर निर्मल श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। श्रद्धा के ये स्थान आदर्श स्वरूप हुआ करते हैं। उसी आदर्श में अपने अनन्त गणात्मक आत्मस्वरूपका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अतएव उनके विषय में अन्यथा श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए। उनकी वास्तविकता को पहचान कर तदनुकूल श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा में अपने मोहभाव और प्रमाद के कारण कोई दोष नहीं लगने देना चाहिए। इसलिए निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन अंगों का पूर्णतया पालन करना चाहिए। उसमें कहीं भी न्यूनता रह जावेगी तो न्यून अक्षरवाले मंत्र की तरह दर्शन इष्ट फलदायक नहीं होता।

गर्व–अहंकार आठ विषयों के आधार से उत्पन्न होता है और वह सम्यग्दर्शन को नष्ट कर देता है। अतः ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, तप, ऋद्धि, शक्ति और शरीरसौष्ठव इनके आधार से अपने को बडा मानकर दूसरों को तुच्छ न समझे। धार्मिक व्यक्ति ही धर्म का आधार हुआ करता है। कहा भी है कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धार्मिक व्यक्ति को छोड धर्म नाम की कोई अलग से स्वतंत्र वस्तु नहीं है। इसीलिए वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अन्य साधर्मी का अपमान नहीं करता।

इन आठ प्रकार के अभिमानों का त्याग क्यों होना चाहिए इसका वर्णन निम्न श्लोक में किया है।

यदि पाप निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यत्सम्पदा किं प्रयोजनम्॥

पाप कर्म के आश्रव को रोकनेवाली वीतरागता और विज्ञानता की संपत्ति होने पर ऐहिक संपत्ति से लाभ ही क्या है? और अगर पाप कर्म के आश्रव का ही कारण है तो भी उस ऐहिक संपत्ति से लाभ क्या? इस तरह इन ऐहिक धनादिक का अभिमान वृथा हि है। इसलिए सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इनको हर प्रयत्न से छोडे हुए हैं।

सम्यग्दृष्टि की अलौकिक महिमा का वर्णन करते समय इहलोक तथा परलोक में किस तरह की सुख संपदा उसके चरणों पर झुकती है इसका प्रमाणभूत वर्णन इस अध्याय का समारोप करते हुए किया गया है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की महत्ता

सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। वह उसकी स्वाभाविक अवस्था है और वह चारों ही गतियों में देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक पर्याय में प्रगट हो सकती है। अत्यंत हीन–पापी माना जानेवाला चांडाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव भी उस रत्न को पा सकता है और उसके प्रभाव से वह भस्माच्छादित अग्नि की तरह भीतर से तेजःपुंज ही रहता है।

सम्यग्दर्शन स्वयं एक मंत्र स्वरूप है। उसके प्रभाव से कुत्ता जैसा क्षुद्र जीव भी श्रेष्ठ देव बन जाता है। और अधर्म के कारण देव भी कुत्ते की पर्याय धारण करने को बाध्य हो जाता है। यही बात 'श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्' इस श्लोक में कहीं गई है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन की महिमा बताने के लिये कुछ दृष्टान्त दिये गये हैं जिनसे उसकी प्रमुखता सिद्ध हो जाती है।

'दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते'

नौका होने पर भी नाविक—कर्णधार न हो तो समुद्रपार होना असंभव होता है। ठीक इसी तरह समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन ही कर्णधार है। 'बीजा भावे तरोरिव' बीज के अभाव में वनस्पती की उत्पत्ति नहीं होती, उसी तरह सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञानादि वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती?

सम्यग्दर्शन को घातने वाले मोह की ग्रन्थी अन्तरंग से अगर दूर नहीं हुई तो बाह्यतः परमेष्ठी की पंक्ती पर आरूढ साधु का कुछ भी महत्व नहीं रहता है उसकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, जिसके परिणामों में दर्शन मोह की भाव ग्रन्थी नहीं है, श्रेष्ठ माना गया है।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, दुष्कुलजन्म आदि अवस्था नहीं प्राप्त करता।

मिथ्यादृष्टि जीव भी सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व और पारिभाजकता प्राप्त कर सकता है, परंतु वह सुरेंद्रत्व चक्रवर्तित्व, तीर्थंकरत्व पदों को नहीं पा सकता। इन पदों को सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है। इस तरह पहले अध्याय में धर्म के प्रधान अंगभूत सम्यग्दर्शन का वर्णन सांगोपांग रूप से किया गया है।

ज्ञानाधिकार

जीव मात्र का सामान्य तथा निर्दोष लक्षण चैतन्य है। ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों चैतन्य ही की विशिष्ट अवस्था में हैं। ज्ञान ही उसका मूलभूत स्वभाव है। जब वह ज्ञान वस्तुतत्व को संशयादि दोषों से रहित यथावत् जानता है तब वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि ज्ञान की उभय दशा में ज्ञानत्व है, लेकिन सम्यग्दर्शन के साथ जो ज्ञान होता है वही ज्ञान धर्म (मोक्षमार्गभूत) होता है। 'सम्यग्ज्ञान' इस शब्द से कही जानेवाली वस्तु भावश्रुत है। जब यह भावश्रुत शब्द के माध्यम से प्रगट होता है तब उसे द्रव्यश्रुत या 'आगम' कहते हैं। परिणामतः आगम भी उपचार से सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आगम के अंगभूत चारों अनुयोगों में सम्यग्ज्ञान दीपक का प्रकाश पाया जाता है। सारांश जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनाधिकता से रहित, वास्तविक रूप को प्रगट करता है वही सम्यग्ज्ञान है। उसमें संशय के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है। वह आगम चार अनुयोगों में विभक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमानुयोग

तीर्थंकरादि पुण्य पुरुषों के पवित्र चरित्रों का और पुरुषार्थों का कथन करनेवाले पुराणस्वरूप सभी ग्रन्थों को प्रथमानुयोग कहते हैं। ये ग्रन्थ बोधि और समाधि की प्राप्ति के लिए उदाहरण के रूप में मार्ग-दर्शक होते हैं।

करणानुयोग

लोकालोक का विभाग, युगपरिवर्तन, चतुर्गति का स्वरूप इ. विषयों को इसमें कही गई है। इन्हें जानकर जीव कुमार्ग से विमुख बन सन्मार्ग की ओर झुकता है।

चरणानुयोग

गृहस्थ और साधुओं के आचार मार्ग, उसकी उत्पत्ति, बुद्धि और सुरक्षा आदि के सम्यक्उपाय आदि का निर्दोष वर्णन इसमें किया गया है।

द्रव्यानुयोग

श्रुतज्ञान मंदिर में संपूर्ण चराचर वस्तुस्वरूप पर प्रकाश फैलानेवाला यह दीपस्तंभ है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्यपाप इनसे संबंधित जीव तत्त्व का वास्तविक स्वरूप इसमें दिखाया गया है। इस तरह केवल सम्यग्ज्ञान का पांच श्लोकों के द्वारा इस अध्याय में बीजरूप से वर्णन यथावत् किया है। विश्वव्यापी भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इसमें सुनिहित है।

चारित्राधिकार

रागद्वेष से पूर्णतया निवृत्त होना यह चारित्र का उद्देश है। चारित्र वह विशुद्धता है जहां आत्मा की आत्मा में प्रवृत्ति होती है। यह चारित्र का सर्वोच्च बिंदु है। क्रमशः यह प्रवृत्ति साध्य होती है। जिन जिन आचारों से चारित्र के उस ध्येय बिंदु के समीप पहुंच होती है उस आचार का अगले तीन अध्यायों में वर्णन है। प्रथमतः चारित्र का स्वरूप और वर्णन किया है। मोह का अभाव होने पर और पत्थर की लकीर की तरह चिरकाल स्थिति रखनेवाले अनंतानुबंधी उसके सकल तथा विकल चारित्ररूप भेदों का निर्देश कर के कषायों का उदय भाव होने पर ग्यारह प्रतिमा और सल्लेखना इनका विस्तार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लाभ होता है। और रागद्वेष की तीव्रता घटती जाती है। रेखातुल्य कषायों के अभाव में (विशिष्ट) रागद्वेष की निवृत्ति होती है। हिंसादिक पांच पाप प्रवृत्तियां नष्ट होने लगती हैं। यही व्यवहार चारित्र है। यह चारित्र स्वामी भेद की अपेक्षा से दो तरह का है। सकल चारित्र महाव्रतीयों को होता है जो सर्व प्रकार से पंच पापों के त्यागी होते हैं। विकल चारित्र सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को होते हैं जो पांच स्थूल पापों को छोडते हैं। इस अध्याय में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह व्रतों का तथा हर एक में लगनेवाले पांच पांच अतिचार दोषों का स्वरूप समझाया गया है। गृहस्थ जीवन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार करते समय अपनी व्रतनिष्ठा स्थिर रहे, उसमें किसी तरह की शिथिलता न आवे यह उदात्त हेतु रक्खा गया है। व्यवसाय करते समय जिस तरह पाई पाई के हानी लाभ का खयाल रक्खा जाता है, ठीक उसी तरह व्यवहार आचार करते समय उसमें छोटे मोटे दोष न लग जावे यही अतिचार त्याग का हेतु है। यदि प्रमाद वश कोई दोष लग भी गया तो प्रतिक्रमणादि द्वारा मिटाने का उपाय भी कहा है।

अन्यत्र मद्य, मांस, मधु और पंच उदुंबर फलों का त्याग करने से अष्ट मूल गुण धारी श्रावक कहा गया है। इस ग्रंथ में मूल गुणधारी श्रावक बनने के लिए 'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्' पांच अणुव्रत पालन के साथ मद्य, मांस, मधुका त्याग आवश्यक कहा है। दोनों प्रकार की वर्णन शैलीका मूलभूत उद्देश हिंसादि पंच पापों से अलिप्त रहने ही का है। इसी तरह शिक्षाव्रतों में अतिथि संविभाग व्रत के स्थान पर वैय्यावृत्य का उल्लेख किया है।

प्राथमिक श्रावकों में अर्हद्भक्ति निर्माण हो, व्रतों के परिपालन की रुचि बढे एतदर्थ अर्हद्भक्ति के फलका तथा आठ अंग, पांच व्रत तथा पांच पापोंमें प्रसिद्ध प्रथमानुयोगोंके समेत चरित्र नाथकों का उल्लेख किया है।

संसार की कोई भी अवस्था दुःखमुक्त नहीं है। उससे छुटकारा पानेके लिए रागद्वेष का त्याग करना पडता है। रागद्वेष का त्याग करना यही तो व्रतिक अवस्था है। अतएव तीसरे अध्याय में व्रतों का वर्णन किया है। मरण समय में होनेवाला दुःख सबसे बडा दुःख है। उस समय रागद्वेष से अलग रहकर व्रतादिकों में परिणाम स्थिर रखना अत्यंत कठिन हो जाता है। शारीरिक ममत्व का अनादि संस्कार भेदविज्ञान पूर्वक व्रत पालना कारण दूर हो जाता है। मरण समय के लेश्या पर अगले जन्म की अवस्था अवलंबित है। अतएव चतुर्थ परिच्छेद में आचार्यश्री ने सल्लेखना का वर्णन किया है। सल्लेखना का अर्थ है कषायत्याग के साथ साथ शरीर विधिपूर्वक छुटे। यदि कषायों का, रागद्वेषादिकों का त्याग न हुआ तो उसे दुर्मरणही कहा है। वह सल्लेखना स्वीकारने का योग्य काल, उसकी त्यागका क्रम तथा उसका फल इन विषयों का वर्णन विशेषतासे लिए हुए है।

जीवित अवस्था का यह अन्तिम सार होने से उसमें कोई सूक्ष्मसा दोष भी न रह जावे, अतः सल्लेखना के अतिचारों को भी दिखाया है। सल्लेखना का फल मोक्षप्राप्ति है अतः अखंड अविनाशी सुखस्वरूप मोक्ष का भी वर्णन किया है। धर्म का और सल्लेखना का आनुषङ्गिक फल स्वर्गप्राप्ति है।

अंतके पांचवे अध्यायमें श्रावक के ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन बताया है। संयम में क्रमशः वृद्धि बरती जाती है। ऐसे संयमी श्रावक को चेलोपसृष्ट मुनि की श्रेणी प्राप्त हो जाती है।

श्रावक का अंतिम स्थान ग्यारहवीं प्रतिमा–उद्दिष्ट त्याग है। उनका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन् उत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥

इसी तरह निवृत्ति मार्गपर आरोहण करते समय सम्यग्दृष्टि श्रावक की ज्ञाता स्वरूप अंतरंग भूमिका बताई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ऐसी व्यवस्था में वह पापाचरण ही को अपना शत्रु मानता है। रत्नत्रयरूप आत्मपरिणति ही सच्चा बन्धु है।

श्रावकों के लिए (उपासकों के लिए) आचार विषयक ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थ के रूप में रत्नकरण्ड की निःसंशय ऊँची है और प्रमाणभूत है।

उपसंहार—आचार्यश्री समंतभद्र ने जिस कालखण्ड में यह ग्रन्थ लिखा वह दार्शनिकों के विवाद का काल था (भिन्न भिन्न दार्शनिक अपने अपने मतका समर्थन बडे जोर से कर रहे थे। ऐसे बिकट समय में सर्वसाधारण जीव भी धर्म का सच्चा स्वरूप जाने, धार्मिक समाज का विघटन न हो यह)। विद्वज्जन अपने कथन का समर्थन इन्हीं श्लोकों को मूलभूत आधार मानकर करते आये हैं। इसपर श्री आचार्य प्रभाचन्द्र ने संस्कृत टीका लिखी है, पं. सदासुखजी ने हिंदी भाषा में विस्तृत टीका लिखकर सामान्य जनता में उसे प्रसारित किया है, इसी हिंदी टीका का ब्र. श्री जीवराजजी गौतमचंद दोशी ने अनुवाद कर मराठी अनुवाद करके आम जनता को स्वाध्याय का सुवर्ण क्षण उपलब्ध कर दिया है। उस ही का स्वाध्याय करके यह लघुकाय प्रबन्ध लिखा है। प्रबन्ध पढकर सामान्य जनता मूल ग्रन्थ के स्वाध्याय की ओर और प्रवृत्त हो ऐसी आशा है। इत्यलम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org